

is itself the process of capital formation. But this process may be divided into three stages- firstly, the creation of savings by individuals and business houses or public authorities; secondly, mobilization and canalization of savings and finally the acquisition of capital goods out of such funds. The third stage may be the stage of capacity creating. The essence of the process is the diversion of a part of society's currently available resources for the purpose of increasing the stock of capital goods so as make possible an expansion of consumable output in the future.

Banks can also play a vital role in stimulating and enhancing money supply. This may be through deposit mobilization and through refinancing facilities provided by the Central Bank or the specialized institutions created for the purpose. In fact banks provide a regular flow of supply of funds; and congenial interest rates for loaning such funds; channelize available funds through individual and institutional entrepreneurs; and basically act as a reservoir for pooling the scattered savings of a nation and their distribution in the economy. Effective banking system shall provide the necessary institutional base for attaining maximum coordination and link-up for economic growth.

References:

1. Nature and Progress of Integrated Rural Development Programme 1987, Bhargava B.K
2. Banking in Developing countries lectures in 11th Banking Seminar, Sept. 1958: cairn cross
3. The Antiquarian Remains in Bihar, K.P.J. Research Institute, Patna: D.R. Palit
4. Towards a Theory of Rural Development, united Nation Asian Development Institute, December 1975: Hague, W. & others
5. Institutional credit and Agricultural Development- The case of Individual Bihar, EAB, 5th vol. 2001: Kumar Dilip
6. Thinking about rural programme, Agricultural Development Council, INC, Newyork-1976: Mosha. A.T
7. Integrated Rural Development, Bombay, 1984-NABARD
8. Methods of tenanting Economic Development in under developed Countries: United Notion.
9. Annual Action Plan (1985-86), DRDA, Gaya
10. Annual Report of PNB, Gaya 2002-03 to 2003-06

वैदिककालीन सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था

डॉ. रामपति शाह*

ब्राह्मण, राजन्य अथवा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में समाज के चार वर्गों का उल्लेख उत्तर-वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर हुआ है। बढ़ते हुए प्रजातीय सम्मिश्रण तथा उत्पादन के अतिरेक से बढ़ती हुई आर्थिक असमानताओं के कारण जनों अथवा आर्य-दास वर्ण पर आधारित विभाजन रेखा प्रक्षीण हो चली थी। जनों का यह विघटन पूर्ववर्ती काल से ही चला आ रहा था। शरीर के रंग के आधार पर मूलतः पृथक् मानव समुदायों-आर्य और आर्येत्तर के सन्दर्भ में व्यहृत होने वाला वर्ण शब्द अब समाज के आन्तरिक स्तरीकरण का परिचायक बनने लगा था।

उत्तर-वैदिक काल में वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में कई विचार मिलते हैं। पर सामाजिक स्तरीकरण की परम्परा-संबंधी विचार अपने बीज रूप में सबसे पहले ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है। पुरुषसूक्त में मिलने वाला यह विचार उत्तर वैदिक काल के कुछ अन्य ग्रंथों में भी प्राप्त होता है। इनके अनुसार विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से राजन्य अथवा क्षत्रिय की, ऊरु से वैश्य की तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। यहां यह विचार निहित है कि विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद शरीर के अन्य अंगों-बाहु, उरु तथा पैर के महत्व के अनुरूप निम्नाभिमुखी क्रम में क्रमशः राजन्य अथवा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान है। ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित जनों का अस्तित्व पहले भी रहा होगा। अतः चतुर्थ शताब्दी ईसा-पूर्व में स्थित शूद्र जन का संबंध लगभग दसवीं शताब्दी ईसा-पूर्व के शूद्र वर्ण से जोड़ा जा सकता है। इस शूद्र जन के अतिरिक्त चतुर्थ वर्ग में वे पराजित आर्य तथा आर्येत्तर भी सम्मिलित थे जो सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा खो चुके थे।

(क) ब्राह्मण- चारों वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में ब्राह्मण को विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न बताया गया है। जो समाज में उनकी सर्वोच्च स्थिति का द्योतक है। ब्राह्मणों के देवत्व की कल्पना स्थान-स्थान पर समुन्मीलित हुई है। ब्राह्मणों के लिए 'भगवन्त' शब्द का प्रयोग उनकी समुन्नत स्थिति का परिचायक है। ब्राह्मणों को अग्नि से संबंधित कर उनकी पवित्रता दर्शायी गयी।

*सहायक शिक्षक, छितौली कला, लक्ष्मीगंज, सिवान बिहार

ब्राह्मणों के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में प्रयुक्त 'आपायी' तथा 'आदायी' शब्द उनके विशेषाधिकार की पुष्टि करते हैं। यज्ञ की अवशिष्ट सामग्री के एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले व्यक्ति को भयंकर दुष्परिणामों का सामना करना पड़ता था। सृंजय वैतहव्यों की पराजय इसी प्रकार का एक दुष्परिणाम बताया गया है। ब्राह्मणों की निन्दा न करने का निर्देश छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। उनको अनुचित बात कहना 'ब्रह्महत्या' के समान बताया गया है। ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों के प्रसंग में ब्राह्मण, प्रतिरूपचर्या, यश और लोकपंक्ति का उल्लेख करते हुए शतपथ ब्राह्मण उन्हें अर्चा, दान, अजेयता और अवध्यता का अधिकारी बताता है।

अधिकांश स्थलों पर क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों की श्रेष्ठ स्थिति ही समुद्भासित की गयी है। राजा के लिए पुरोहित अनिवार्य था। यह धारणा थी कि पुरोहित-विहीन राजा का अन्न देवता स्वीकार नहीं करते थे। ब्राह्मणों की सदाशयता तथा अनुकूलता राजा के लिए आवश्यक बतायी गयी है। राज्य की सुरक्षा के लिए ब्राह्मणों की हत्या का निषेध किया गया है। 'ब्रह्म' को क्षत्रिय की योनि कहा गया है; इसलिये यह बताया गया है कि राजसूर्य यज्ञ में उत्कृष्टता को प्राप्त करने पर भी उसे अन्त में ब्राह्मण का ही आश्रय लेना पड़ता है। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता है वह स्वयं अपना ही नाश करता है।

क्षत्रिय — क्षत्रिय की उत्पत्ति विराट् पुरुष की भुजाओं से बतायी गयी है। समाज में इनका स्थान वैश्यों से ऊपर था। अथर्ववेद में क्षत्रियों के द्योतक शब्द क्षत्रिय, राजन्य और नृपति प्राप्त होते हैं। इस वर्ग में सम्पूर्ण राजकीय वर्ग तथा उससे संबंधित परिवारों के अतिरिक्त योद्धाओं का परिगणन भी किया गया है। इनका प्रधान कार्य युद्ध के लिए तैयार रहना था। राजा के रूप में क्षत्रिय ब्याध के समान शत्रुओं का विनाशक कहा गया है। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है, कौन प्रशस्त फल चाहनेवाला क्षत्रिय हम लोगों को इस अहितकारों बाधा से मुक्त करेगा।

क्षत्रिय अथवा राजन्य ओज तथा शक्ति का प्रतीक समझा जाता था। पुरोहित, अभिजात वर्ग (Nobility) तथा वैश्य को यज्ञ के निमित्त भूमि की याचना राजा से करनी पड़ती थी जब कि स्वयं राजा अपने लिए भूमि की (यचना) सूर्य-देवता से करता था। इस आधार पर क्षत्रियों के राजनीतिक प्रभुत्व का अनुमान लगाया गया है। इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि विश अथवा प्रजा जन क्षत्रिय के लिये बलि प्रदान करते थे। इसीलिये क्षत्रियों को विश् का 'अत्ता' तथा शूद्रों को मृत्यु-दण्ड देने का अधिकारी बताया गया है। राजनीतिक प्रभुत्व के

कारण क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठर में भी वृद्धि हुई और राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक कहा गया। राजसूर्य के अवसर पर वृहदारण्यक उपनिषद् भी क्षत्रियों को श्रेष्ठ बताता है।क्षत्रियों से श्रेष्ठ कोई नहीं है, इसी से राजसूर्य यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है तथा क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है। इसी प्रसंग में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि अन्त में क्षत्रिय को ब्राह्मण का ही आश्रय लेना पड़ता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्ततः ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति ही सर्वोपरि थी। लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व क्षत्रियों का था। प्रभुता-प्राप्ति के लिये होने वाले इस संदर्भ को रोकने के लिये ही सम्भवतः इन दोनों उच्च वर्गों में पारस्परिक सहयोग की भावना बनाये रखने का प्रयास किया गया है, जो अधिकांश स्थलों पर द्रष्टव्य है।

वैश्य— ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्यों की सामाजिक स्थिति ही न थी। इस वर्ग में कृषक, वणिक तथा विभिन्न शिल्पों द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाले वे लोग सम्मिलित थे जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत नहीं आते थे। समाज में वर्ग के सदस्यों का स्थान शूद्र वर्गीय सदस्यों की अपेक्षा उच्च था। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा वैश्यों को दबाकर रखने के प्रसंग आगे दिये गये हैं। इस शोषण में ब्राह्मणों ने पूरा सहयोग क्षत्रियों को दिया। यह स्थिति शतपथ ब्राह्मण में विशेष रूप से समुद्भासित हुई है। राजसूर्य यज्ञ के सन्दर्भ में मधुग्रह नामक एक संस्कार का वर्णन है जिसमें अध्वर्यु नामक पुरोहित क्षत्रियों को सत्य, श्री तथा ज्योति से अनुप्राणित करता था और वैश्य को अनृत, पाप तथा तम से।

शूद्र-वर्णों में शूद्रों की स्थिति सबसे निम्न थी। इसलिये उनकी उत्पत्ति की कल्पना विराट् पुरुष के पैरों से की गयी है। उनकी शोषित स्थिति का उल्लेख आगे किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में शूद्रों को असुरों अथवा राक्षसों से उत्पन्न बताया गया है। तप से यहां तात्पर्य कठिन परिश्रम से है। वृहदारण्यक उपनिषद् में भी कुछ इसी प्रकार का व्रसंग वर्णोत्पत्ति के संबंध में आया है। ज्ञान, शक्ति तथा सम्पत्ति के अतिरिक्त समाज को सेवा तथा कर्म की भी आवश्यकता थी, इसलिये ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तब उसने शूद्र वर्ण की रचना की।

कुछ समुदाय ऐसे भी थे जिनकी स्थिति शूद्रों से हीन थी। इसका कारण सम्भवतः यह था कि उनका सांस्कृतिक स्तर बहुत निम्नकोटि का था तथा उनका संबंध अनार्यों से था। चण्डाल तथा पौल्कस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि पश्चिम दिशा में रहने वाले नीच्यों तथा उपाच्यों के राजा 'स्वराज्य' के लिए ही अभिशिक्त हो सकते थे। इसी ब्राह्मण के शुनःशेष आख्यान

के संदर्भ में विश्वामित्र ने अपने कुछ पुत्रों को अन्ध, शबर, पुण्ड्र, पुलिन्द, मूतिब हो जाने का शाप दिया। ये सम्भवतः समाज के हीन वर्ग के समुदाय रहे होंगे।

निषादों का सर्वप्रथम उल्लेख यजुर्वेद के रुद्राध्याय में हुआ है तथा संहिताओं में शतरुद्रिय स्तुतिमाला के संदर्भ में निषादों के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित किया गया है। निषादों की आस्ट्रिक प्रजातीय प्रकार का बताया गया है। ये सम्भवतः आर्य आधिपत्य के अन्तर्गत नहीं थे। लाट्यायन श्रौतसूत्र में निषादधाम तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में निषाद स्थपति का विवरण मिलता है। विश्वजित् यज्ञ के संदर्भ में निषादों के साथ अल्पकालीन निवास की व्यवस्था भी की गयी है। इस काल में निषादों की अस्पृश्यता का उल्लेख नहीं मिलता है, जो अग्रगामी काल में दिखायी पड़ने लगती है।

कुछ ऐसे प्रकरण भी उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सामाजिक नेतृत्व तथा प्राधान्य को लेकर स्वयं शासक वर्ग (ब्राह्मण एवं क्षत्रियों) में भी कभी-कभी अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाया करती थी। कुछ अवसरों पर ब्राह्मण को क्षत्रियों से श्रेष्ठ बताया गया है और कुछ स्थलों पर राजा को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताकर उसे दबाने की चेष्टा व्यक्त की गयी हैं। एक ओर पृथ्वी के देवता ब्राह्मणों ने अपना राजा सोम को बाताकर राजा के राजनीतिक प्रभुत्व को हेय बताने का प्रयास किया तो दूसरी ओर उपनिषद्कालीन द्वात्रिय राजाओं ने, ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में, स्वयं को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की। यदा-कदा उत्पन्न हो जाने वाले इस अन्तर्विरोध के बावजूद ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के पारस्परिक अन्तरवलम्बन और सहयोग पर ही विशेष बल दिया है।

सन्दर्भ—

1. आर. के. मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल।
2. विजय बहादुर राव, उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति।
3. आर. एस. शर्मा, शूद्रज इन ऐश्येण्ट इण्डिया।
4. एन. के. दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम 1।
5. आर. सी. मजूमदार द्वारा सम्पादित वैदिक एज।
6. ऐत. ब्रा० 40.1; जोगीराज बसु, इण्डिया ऑव द एज ऑव द ब्राह्मण।
7. ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम-1
8. रामगोपाल, इण्डिया ऑव वैदिक कल्पसूत्रज।
9. विवेकानन्द झा, स्टेजेज इन दी हिस्ट्री ऑव अनटचेबुल्स : द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, वाल्यूम-2, नवम्बर 1, जुलाई, 1975।
10. इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, वाल्यूम-2, नवम्बर 1, जुलाई 1975।
